अम्बिका प्रसाद ठाकुर एवं अन्य

बनाम

महाराज कुमार कमल सिंह एवं अन्य

8 *सितम्बर*, 1965

[के. सुब्बा राव; जे. आर. मुदोलकर एवं आर. एस. बच्चावत, न्यायमूर्ति गण]

साक्ष्य अधिनियम (1872 का अधिनियम संख्या 1), *धारा 114—किसी तथ्य अथवा परिस्थितियों की अवस्था का अस्तित्व—पिछले समय तक निरंतरता का अनुमान—क्या अनुमेय है।*

अपीलकर्ताओं ने विवादित भूमि पर अपना अधिकार 1825 के बंगाल जलोढ़ एवं बाढ़ विनियमन की धारा 4(1) के आधार पर दावा किया। उक्त उपबंध के अंतर्गत अपना दावा स्थापित करने के लिए अपीलकर्ताओं को यह सिद्ध करना आवश्यक था कि विवादित भूमि नदी के प्रवाह के पीछे हटने से क्रमिक अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप प्राप्त हुई तथा यह अभिवृद्धि उन भू-खण्डों में हुई जो अपीलकर्ताओं अथवा उनके पूर्वजों के कब्जे में थे। चूँकि 1892 से 1909 तक के सर्वेक्षण अभिलेख यह दर्शाते हैं कि अपीलकर्ताओं के पूर्वजों के पास कुछ सीमावर्ती भू-खण्ड थे, अतः उच्च न्यायालय से यह अनुमान लगाने का अनुरोध किया गया कि 1845 से 1863 की अवधि के दौरान, जब विवादित भूमि की अभिवृद्धि हुई, तब वे उन्हीं भू-खण्डों के धारक थे। उच्च न्यायालय ने ऐसा अनुमान लगाने से इंकार कर दिया।

इस न्यायालय में अपील पर—

अभिनिर्धारित: यदि किसी वस्तु अथवा किसी परिस्थितियों की अवस्था का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है, तो उसकी निरंतरता का अनुमान, जहाँ उपयुक्त हो, भविष्य की ओर तथा उपयुक्त मामलों में अतीत की ओर भी, भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 114 के अंतर्गत लगाया जा सकता है। किंतु वर्तमान प्रकरण में यह मान लेना सुरक्षित नहीं था कि 1892 से 1909 के बीच विद्यमान परिस्थितियों की अवस्था 1845 से 1863 की अवधि के दौरान भी विद्यमान थी, क्योंकि दोनों अवधियों के मध्य समयांतराल अत्यधिक लंबा था। [760 एच]

अनंगमंजरी चौधरानी बनाम त्रिपुरा सुंदरी चौधरानी, (1887) एल.आर. 14 आई.ए.

101, 110, अनुमोदित।

मनमथ नाथ हैदर बनाम गिरीश चन्द्र रॉय, (1934) 38 सी.डब्ल्यू.एन. 763, 770 तथा *हेमेन्द्र नाथ रॉय चौधरी बनाम ज्ञानेन्द्र प्रसन्न भादुडी,* (1935) 40 सी.डब्ल्यू.एन. 115, 117—में व्यक्त विपरीत टिप्पणियाँ—अस्वीकृत।

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार: 1959 की दीवानी अपील संख्या 435 से 437।

पटना उच्च न्यायालय द्वारा दिनांक 24 अप्रैल, 1953 को पारित निर्णय एवं डिक्री के विरुद्ध अपीलें, प्रथम अपील संख्या 119, 192 तथा 189 (क्रमशः) में।

एस. टी. देसाई, यू. पी. सिंह तथा डी. गोबर्धन—अपीलकर्ताओं की ओर से।

जी. एस. पाठक, बी. दत्ता तथा के. के. सिंह—उत्तरदाता संख्या 2, 3(क), 3(घ), 4(क) से 4(ग), 5, 6, 7(क), 8 से 14, 15(क) से 15(ग), 16, 18 से 20, 21(क), 21(ख), 22, 23, 25 से 32, 33(क), 33(ख), 34 से 38, 39(क) से 39(घ), 40 से 42, 44, 45, 46(क) से 46(घ), 47, 48, 49, 74 से 79 तथा उत्तरदाता संख्या 1 के विधिक प्रतिनिधियों की ओर से (1959 की दीवानी अपील संख्या 435 एवं 436 में) और उत्तरदाता संख्या 14 से 16, 18(क़), 18(घ), 19(क) से 19(ग), 21, 23, 25, 26 और उत्तरदाता संख्या 1 के कानूनी प्रतिनिधि (1959 की दीवानी अपील संख्या 437 में)।

सरजू प्रसाद, कन्हैयाजी तथा ए. जी. रत्नापारखी — उत्तरदाता संख्या 80 की ओर से (1959 की दीवानी अपील संख्या 435 एवं 436 में) तथा उत्तरदाता संख्या 1 की ओर से (1959 की दीवानी अपील संख्या 437 में)।

डी. पी. सिंह — उत्तरदाता संख्या 81 की ओर से (1959 की दीवानी अपील संख्या 435 एवं 436 में)।

न्यायालय का निर्णय **बचावत, न्यायमूर्ति** द्वारा दिया गया—

मामले के तथ्यों का उल्लेख करने तथा साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात्, माननीय न्यायमूर्ति ने आगे कहा—

स्वामित्व (टाइटल) के प्रश्न पर भी वादीगण असफल होते हैं। वादपत्र में उनके स्वामित्व के दावे का आधार यह था— (क) उनके पूर्वज नौरंग ठाकुर द्वारा डुभहा तौफिर की

426 बीघा 18 कट्ठा एवं 9 धूर भूमि पर कब्जा, जैसा कि 1892 के सर्वेक्षण अभिलेखों में उनके अधिकारों के अभिलेखन से परिलक्षित होता है; तथा (ख) डुमरांव राज के साथ मौखिक व्यवस्था। इस दावे का प्रथम आधार स्पष्टतः गलत है। 1892 के सर्वेक्षण अभिलेख नौरंग ठाकुर के पक्ष में 426 बीघा 18 कट्ठा एवं 9 धूर भूमि पर कब्जाधारी अधिकार दर्ज नहीं करते। उच्च न्यायालय में वादियों के अधिवक्ता ने स्वीकार किया कि 1892–1893 के खसरा सर्वेक्षण में वादियों की शाखा केवल लगभग 19 बीघा भूमि की किरायेदार के रूप में दर्ज है। मौखिक व्यवस्था सिद्ध नहीं होती और इस प्रकार दावे का द्वितीय आधार भी असफल हो जाता है। अधीनस्थ न्यायमूर्ति ने वादियों के स्वामित्व के दावे के आधार की जाँच नहीं की। वादियों के स्वामित्व के पक्ष में उनका निष्कर्ष मुख्यतः (1) मौखिक साक्ष्य, (2) पूर्व वादों में गवाहों के बयान, (3) कब्जा, तथा (4) महाराजा की स्वीकारोक्ति पर आधारित था। इस बिंदु पर मौखिक साक्ष्य विश्वसनीय नहीं है। दावा दस्तावेजी साक्ष्य से समर्थित नहीं है। 1892, 1895, 1904, 1909 तथा 1937 के सर्वेक्षण अभिलेख वाद-विवादित भूमि पर वादियों के कब्जाधारी अधिकार के दावे का समर्थन नहीं करते। अन्य वादों में गवाहों के बयान मामले को आगे नहीं बढ़ाते। वाद संख्या 217 सन् 1911 में उत्तरदाता संख्या 11, राम दास राय का बयान साक्ष्यात्मक दृष्टि से कमजोर है। यद्यपि वह उसके विरुद्ध स्वीकारोक्ति के रूप में ग्राह्य हो सकता है, किन्तु अन्य उत्तरदाताओं के विरुद्ध वह ग्राह्य नहीं है। जिन अन्य बयानों पर भरोसा किया गया है, वे भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 33 की कसौटी पर खरे नहीं उतरते और साक्ष्य के रूप में ग्राह्य नहीं हैं। हम पहले ही यह निष्कर्ष दे चुके हैं कि वादीगण तथा उनके पूर्वज 1909 के पश्चात् विवादित भूमि के कब्जे में नहीं थे। 1909 से पूर्व उनके कब्जे के संबंध में मौखिक साक्ष्य विश्वसनीय नहीं है, और हम उसे स्वीकार करने के इच्छुक नहीं हैं। दस्तावेजी साक्ष्य 1909 से पहले उनके कब्जे की कहानी का समर्थन नहीं करते हैं। वादी के 244 बीघा भूमि पर स्वामित्व से संबंधित वाद संख्या 247/10/1913 में महाराजा द्वारा स्वीकारोक्ति के संबंध में, हम पाते हैं कि अपने लिखित बयान में महाराजा ने अपने *खास जेरैती* अधिकारों पर जोर दिया और वादी के पूर्वजों के कथित गुज़श्ता कास्था अधिकारों से इनकार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहार में *'गुज़श्ता काश्त'* का अर्थ ऐसी जोत से है जिस पर देय लगान में वृद्धि नहीं की जा सकती। इसके पश्चात्, 10 जून, 1913 को उसकी ओर से एक याचिका दायर की गई, जिसमें यह कहा गया कि वादियों के पूर्वज विवादित भूमि पर *'गुज़श्ता काश्त'* अधिकारों के साथ काश्तकार के रूप में कब्जे में थे। महाराजा इस वाद की सफलता में हितधारक था और अपने हित में उसके लिए यह स्वीकारोक्ति करना आवश्यक था। यह स्वीकारोक्ति वाद की सुनवाई के अंत में, जब तर्क प्रारंभ हो चुके थे, कुछ

संदिग्ध परिस्थितियों में की गई। यद्यपि यह याचिका दायर की गई थी, तथापि महाराजा का लिखित कथन औपचारिक रूप से कभी संशोधित नहीं किया गया। इन परिस्थितियों में, इस स्वीकारोक्ति का साक्ष्यात्मक मूल्य कमजोर है। इस वाद में वादीगण न तो स्पष्ट अनुदान द्वारा और न ही प्रतिकूल कब्जे द्वारा काश्तकारी अधिकार का दावा करते हैं। केवल स्वीकारोक्ति मात्र से स्वामित्व सिद्ध नहीं हो सकता। अब वादीगण 1825 के विनियमन संख्या XI की धारा 4 की उपधारा (1) के अंतर्गत स्वामित्व का दावा करते हैं। अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य इस दावे को स्थापित नहीं करता।

1825 के विनियमन संख्या XI की धारा 4 की उपधारा (1) के अंतर्गत आधारित स्वामित्व का दावा वादपत्र में स्पष्ट रूप से नहीं किया गया था। यह स्पष्ट रूप से पहली बार उच्च न्यायालय में प्रस्तुत किया गया। यह तर्क दिया गया कि वाद संख्या 22 से 31 तथा 1937 के वाद संख्या 199 में दिए गए निर्णयों ने इस दावे को निर्णायक रूप से स्थापित कर दिया है। उच्च न्यायालय ने उचित रूप से यह इंगित किया कि वे वाद वर्तमान वाद में विवादित विषय-वस्तु के किसी भी भाग से संबंधित नहीं थे, और उन वादों में दिए गए निर्णय *'पूर्व न्याय'* के रूप में प्रभावी नहीं हो सकते। अब वादीगण यह तर्क करते हैं कि उक्त निर्णय यह दर्शाने के लिए ग्राह्य हैं कि वादियों के पूर्वजों ने विनियमन के अंतर्गत तौफिर भूमि को दुभा माल के सीमावर्ती भू-खण्डों की अभिवृद्धि के रूप में स्वामित्व का दावा किया था और उनका दावा मान्य किया गया था। किन्तु वादियों के पूर्वजों ने इस प्रकार का स्वामित्व दावा निरंतर रूप से नहीं किया। गाँव दुभा से संबंधित विवादित मामलों संख्या 1 से 253 में उन्होंने वाद-विवादित भूमि पर अपने 77 बीघा भूमि की अभिवृद्धि के रूप में स्वामित्व का दावा किया था, और उस दावे को अस्वीकार कर दिया गया था।

1892, 1895, 1904 तथा 1909 के सर्वेक्षण अभिलेख यह प्रकट करते हैं कि वादियों के पूर्वजों के पास दुभा माल के कुछ सीमावर्ती भू-खण्ड थे। अतः उच्च न्यायालय से यह अनुमान लगाने का अनुरोध किया गया कि 1845 से 1863 की अवधि के दौरान, जब तौफिर भूमि की अभिवृद्धि हुई, तब उनके पूर्वज उन भू-खण्डों के धारक थे। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा अनुमान लगाया जाना चाहिए। अब, यदि किसी वस्तु अथवा परिस्थितियों की अवस्था का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है, तो उसकी निरंतरता का अनुमान, युक्तिसंगत रूप से समीपस्थ समयावधि के भीतर, कभी-कभी आगे की ओर तथा पीछे की ओर भी लगाया जा सकता है। भविष्य में निरंतरता की यह अनुमानधारणा भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 114 के उदाहरण (घ) में उल्लिखित है। उपयुक्त मामलों में, इस खंड के अंतर्गत किसी वस्तु या

स्थिति की निरंतरता का पूर्वव्यापी अनुमान लगाया जा सकता है, हालांकि इस बिंदु पर खंड में कोई अलग उदाहरण नहीं दिया गया है। यह सिद्धांत कि निरंतरता की अनुमानधारणा पूर्वव्यापी रूप से भी लागू हो सकती है, भारत में मान्यता प्राप्त है; इसके लिए *अनंगमंजरी चौधरी बनाम त्रिपुरा सुंदरी चौधरानी* ([1]) को देखा जा सकता है; तथा इंग्लैंड में इसके लिए *ब्रिस्टो बनाम कॉर्मिकन* ([2]), *डियो बनाम यंग* ([3]) को देखा जा सकता है। *मनमथ नाथ हलदर बनाम गिरिश चन्द्र रॉय* ([4]) तथा *हेमेन्द्र नाथ रॉय चौधरी बनाम ज्ञानेंद्र प्रसन्न भादुडी* ([5]) में की गई व्यापक टिप्पणी कि ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके आधार पर निरंतरता की अनुमानधारणा को अतीत की ओर लागू किया जा सके, समर्थित नहीं की जा सकती। समय के व्यतीत होने के साथ निरंतरता की अनुमानधारणा कमजोर होती जाती है। यह कि अनुमान को अतीत की ओर तथा भविष्य की ओर किस प्रकार लागू किया जाए, उस वस्तु या स्थिति की प्रकृति तथा परिवेशगत परिस्थितियों पर निर्भर करता है। वर्तमान मामले में उच्च न्यायालय ने 1892 से 1909 के दौरान विद्यमान परिस्थितियों की अवस्था के आधार पर यह अनुमान लगाने से विधिवत इंकार कर दिया कि वादियों के पूर्वज 1863 में दुभा माल के सीमावर्ती भू-खण्डों के धारक थे। उच्च न्यायालय ने यह भी इंगित किया कि 1894 से 1905 के बीच भी कुछ भू-खण्डों का स्वामित्व परिवर्तित हो चुका था, और यह भी कि दुभा माल के सीमावर्ती भू-खण्ड तथा उनसे संबद्ध तौफिर भू-खण्ड सदैव एक ही व्यक्ति के पास नहीं रहे। 1845 में माल भूमि का एक भाग जलमग्न था। 1845 से 1863 के बीच पुनर्गठित हुई सीमावर्ती माल भूमि वार्षिक जलप्लावन के अधीन थी। यह सर्वविदित है कि चार भूमि पर की गई बंदोबस्त मौसमी तथा अस्थायी प्रकृति की होती है। 1892 और 1845 के बीच पर्याप्त समयांतराल है। यह मान लेना सुरक्षित नहीं है कि 1894 से 1905 के दौरान विद्यमान परिस्थितियों की अवस्था 1845 से 1863 की अवधि में भी विद्यमान थी।

प्रदर्श एल-I (13) में, 2 जनवरी, 1912 को प्रकाशित मौजा दुभा की खतियान में, वादियों के पूर्वजों के पास स्थित अनेक भू-खण्डों की काश्तकारी को *शरह मोइयन* (स्थायी दर पर काश्तकारी) के रूप में वर्णित किया गया है। वादीगण का तर्क है कि इस अभिलेख को 1885

---

1 (1887) एल.आर. 14 आई.ए. 101, 110

2 (1878) एल.आर. 3 ए.सी. 641, 669, 670

3 (1845) 8 क्यू.बी. 63, 115 ई.आर. 798

4 (1934) 38 सी.डब्ल्यू.एन. 763, 770

5 (1935) 40 सी.डब्ल्यू.एन. 115, 117

के बंगाल काश्तकारी अधिनियम की धारा 50 की उपधारा (2) के साथ संयुक्त रूप से पढ़ने से यह सिद्ध होता है कि वादियों के पूर्वज स्थायी बंदोबस्त के समय से ही उन भू-खण्डों के धारक रहे होंगे। यह तर्क त्रुटिपूर्ण एवं भ्रामक है। 1885 के बंगाल काश्तकारी अधिनियम की धारा 50 की उपधारा (2) इस अधिनियम के अंतर्गत किसी वाद या कार्यवाही में यह अनुमान उत्पन्न करती है कि यदि यह प्रदर्शित किया जाए कि पिछले बीस वर्षों के दौरान लगान की दर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, तो रैयत स्थायी बंदोबस्त के समय से उसी दर पर भूमि धारण करता रहा है। लगान की स्थिरता न केवल इस अनुमानधारणा से, बल्कि स्पष्ट अनुदान से भी उत्पन्न हो सकती है। अधिकार अभिलेख में यह प्रविष्टि कि किरायेदारी निश्चित दर (ए) पर थी, का यह अर्थ आवश्यक नहीं है कि किरायेदार स्थायी बंदोबस्त के समय से ही भूमि का मालिक था। प्रदर्श एल-1(13) में दर्ज प्रविष्टियों पर आधारित मुद्दा अधीनस्थ न्यायालयों में नहीं उठाया गया था, और जिन परिस्थितियों में ये प्रविष्टियाँ की गईं और क्या ये दुभा की सीमावर्ती भूखंडों से संबंधित हैं, इस प्रश्न की जाँच नहीं की गई है। हमारा मानना है कि इस नए मुद्दे को इस स्तर पर उठाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

जैसा कि वाद गठित किया गया है, वह असफल होना ही चाहिए, भले ही हम यह अनुमान मान लें कि 1845 से 1863 के बीच, जब तौफिर भूमि की अभिवृद्धि हुई, वादियों की शाखा के पूर्वजों के पास दुभा माल के कुछ सीमावर्ती भू-खण्ड थे। उत्तरदाताओं—तृतीय पक्ष—की शाखा के पूर्वजों के पास भी 1892 से 1909 के बीच दुभा माल के अनेक सीमावर्ती भू-खण्ड थे, और यदि उनके पक्ष में भी वही अनुमान लगाया जाए, तो यह प्रतीत होगा कि 1845 से 1863 के बीच उनके पास भी दुभा माल के अनेक सीमावर्ती भू-खण्ड थे। वादियों की शाखा के पूर्वज तथा उत्तरदाताओं—तृतीय पक्ष—की शाखा के पूर्वज, दोनों ने दुभा माल के विभिन्न सीमावर्ती भू-खण्डों को पृथक-पृथक रूप से धारण किया और उनका उपभोग किया; और वादियों के मामले में, वादियों की शाखा के पूर्वज अपने-अपने भू-खण्डों के सामने स्थित जलोढ़ अभिवृद्धियों के हकदार होते और इसी प्रकार, उत्तरदाताओं—तृतीय पक्ष—की शाखा के पूर्वज भी अपने-अपने भू-खण्डों के सामने स्थित जलोढ़ अभिवृद्धियों के हकदार होते। प्रत्येक भू-खण्ड की जलोढ़ अभिवृद्धि का विभाजन, उसकी सीमा-बिंदुओं से गंगा नदी के नए प्रवाह की दिशा तक लंबवत रेखाएँ खींचकर किया जाना चाहिए, ताकि प्रत्येक भू-खण्ड को उसके पूर्ववर्ती नदी-सामने (रिवर फ्रंटेज) के अनुपात में नया नदी-सामने प्राप्त हो। वादीगण अपनी शाखा के पूर्वजों के पास स्थित भू-खण्डों के सामने की जलोढ़ अभिवृद्धियों से अधिक किसी भी जलोढ़ अभिवृद्धि का दावा नहीं कर सकते। अधीनस्थ न्यायालयों में वादियों द्वारा विभिन्न

सीमावर्ती भू-खण्डों के बीच जलोढ़ अभिवृद्धियों के विभाजन का कोई प्रयास नहीं किया गया। आगे की जाँच के बिना, प्रत्येक भू-खण्ड के संबंध में जलोढ़ अभिवृद्धियों का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इस स्तर पर यह वाद पुनर्विचार हेतु वापस भेजने का उपयुक्त मामला नहीं है। वादियों का यह अतिरिक्त मामला कि उत्तरदाताओं—तृतीय पक्ष—ने तौफिर भूमि के अपने हिस्से पर स्वामित्व खो दिया, स्थापित नहीं किया गया है। न तो यह आरोपित किया गया है और न ही यह सिद्ध किया गया है कि वादीगण और उत्तरदाता—तृतीय पक्ष—संयुक्त रूप से तौफिर भूमि के स्वामी थे और उस पर संयुक्त रूप से कब्जे में थे। संयुक्त स्वामित्व और कब्जे के संबंध में अभिवचन तथा प्रमाण के अभाव में, तौफिर भूमि के संपूर्ण क्षेत्र की वसूली के लिए वादियों का दावा असफल होना ही चाहिए।

इस कठिनाई को भांपते हुए, वादी पक्ष के अधिवक्ता ने हमारे समक्ष एक बिल्कुल नया मामला प्रस्तुत किया। उन्होंने निवेदन किया कि दिहाल ठाकुर, जो वादी और उत्तरदाता-तृतीय पक्ष के साझा पूर्वज थे, 1845 से 1863 के बीच दुभा मल की सभी सीमावर्ती भूमि के स्वामी थे और फलस्वरूप उन्होंने अपनी भूमि के सामने की सभी तौफीर भूमि पर अधिभोग अधिकार प्राप्त कर लिया था। अब ये अधिकार वादी और उत्तरदाता-तृतीय पक्ष को संयुक्त रूप से प्राप्त हो गए हैं, और वादी और उत्तरदाता-तृतीय पक्ष संपूर्ण तौफीर भूमि के संयुक्त रूप से हकदार हैं। इस प्रकरण का कोई भी उल्लेख न तो अभिवचनों में और न ही विचारण न्यायालय के निर्णय में मिलता है। यह प्रकरण उच्च न्यायालय में भी कभी प्रस्तुत नहीं किया गया था। इसके विपरीत, वादियों का पूरा मामला सदैव यह रहा है कि वादियों तथा उत्तरदाताओं—तृतीय पक्ष—की शाखाओं ने अपने-अपने भू-खण्डों को पृथक रूप से धारण किया तथा उनका उपभोग किया। इसके अतिरिक्त, हम यह अनुमान लगाने के लिए भी प्रवृत्त नहीं हैं कि 1845 से 1863 के बीच दिहल ठाकुर दुभा माल के समस्त सीमावर्ती भू-खण्डों के स्वामी थे। भले ही हम यह मान लें कि 1892 या यहाँ तक कि 1882 में भी दिहल ठाकुर के पास सीमावर्ती भू-खण्ड थे, तथापि हम यह अनुमान लगाने में असमर्थ हैं कि 1845 से 1863 के बीच दिहल ठाकुर के पास वे भू-खण्ड थे। यह प्रकरण पहली बार अब प्रस्तुत किया गया है और अधीनस्थ न्यायालयों में इसकी कभी जाँच नहीं की गई। न तो ऐसा कोई अभिवचन है और न ही कोई प्रमाण है कि दिहल ठाकुर के पास किसी भी समय दुभा माल के सीमावर्ती भू-खण्डों में से कोई भू-खण्ड था, अथवा यह कि वादियों और उत्तरदाताओं—तृतीय पक्ष—की शाखाओं ने दिहल ठाकुर से अपने-अपने भू-खण्ड उत्तराधिकार में प्राप्त किए।

1825 के विनियमन संख्या XI की धारा 4 की उपधारा (1) के अंतर्गत आधारित अपने

दावे को स्थापित करने के लिए वादियों को यह भी सिद्ध करना आवश्यक था कि तौफिर भूमि नदी के प्रवाह के पीछे हटने से क्रमिक अभिवृद्धि द्वारा प्राप्त हुई। अन्य बिंदुओं पर हमारे निष्कर्षों को दृष्टिगत रखते हुए, हम इस प्रश्न पर कोई अभिमत व्यक्त करना आवश्यक नहीं समझते। भले ही तौफिर भूमि क्रमिक अभिवृद्धि द्वारा प्राप्त हुई हो, यह अभिवृद्धि वादियों के लाभ के लिए अर्जित नहीं हुई। वादी यह स्थापित करने में असफल रहे हैं कि उनके पूर्वजों के पास ऐसा कोई भू-खण्ड था अथवा कोई ऐसा भू-खण्ड था जिससे संबंधित होकर यह अभिवृद्धि संलग्न हुई हो।

वादी 1825 के विनियमन संख्या XI की धारा 4 की उपधारा (1) के अंतर्गत आधारित अपने स्वामित्व को सिद्ध करने में असफल रहे हैं। वे मौखिक व्यवस्थाओं के आधार पर अपने स्वामित्व के दावे को स्थापित करने में भी असफल रहे हैं। विवादित भूमि पर कब्जे के आधार पर उनका स्वामित्व दावा भी स्थापित नहीं हुआ है। वे यह सिद्ध करने में असफल रहे हैं कि वे विवादित भूमि के कब्जे में थे। इसके अतिरिक्त, मात्र कब्जा काश्तकारी अधिकार प्रदान नहीं करता।

परिणामस्वरूप, यह निष्कर्ष है कि 1959 की दीवानी अपील संख्या 435 एवं 436 असफल होती हैं।

1959 की दीवानी अपील संख्या 435 से 437 निरस्त की जाती हैं।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।